द्रव्य पूजा एवं भाव पूजा का समन्वय

तेरापंथ आचार्य श्री महाश्रमणजी
के संबोध की समीक्षा

- भूषण शाह

गुरु के सामैये एवं मन्दिर बन सकते है तो प्रभु भक्ति में कमी क्यों?

अगर इसमें गुरु भक्ति है
तो प्रभु-पूजा में ?

उपकारी गुरु के गले में सोहे हार !!
तो परमोपकारी प्रभु के ?

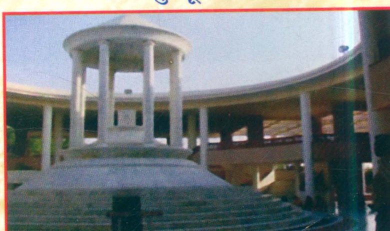

आ. तुलसी समाधिमन्दिर, गंगा शहर

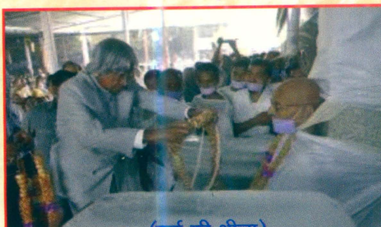

आ. श्री महाप्रज्ञजी के पार्थिव देह का
अब्दुल कलाम द्वारा हार से बहुमान

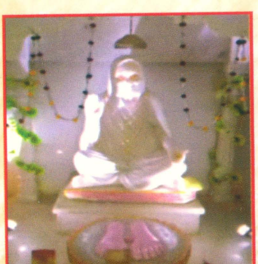

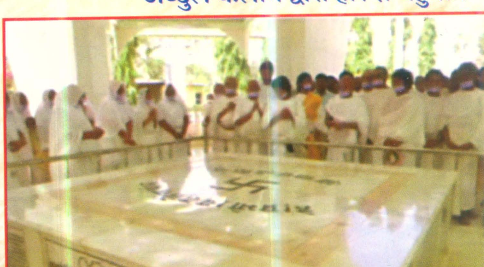

आ. भिक्षु के समाधि स्थल (सीरीयारी)
में नमन करते तेरापंथी संत-सतीयाँ

॥ जैनशासन जयकारा ॥

द्रव्य पूजा एवं भाव पूजा का समन्वय

तेरापंथ आचार्य श्री महाश्रमणजी के संबोध की समीक्षा

❖ देवलोक से दिव्य सान्निध्य ❖

प. पू. गुरुदेव श्री जंबूविजयजी म.सा.

❖ लेखक ❖

भूषण शाह

❖ प्रकाशक ❖

चन्द्रोदय परिवार

B-405/406, सुमतिनाथ कॉम्पलेक्ष

ब।बावाडी, मांडवी (कच्छ) 370465

© प्रकाशक
प्रति : 2000

मूल्य : 20

प्रकाशन वर्ष : 2016

आप online भी पढ सकते है - www.jainelibrary.org

'तेरापंथ : भावपूजा'
विषय पर आ. श्री महाश्रमणजी का संबोध

आर्हत् वाङ्मय में 'वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि.... ' पाठ प्राप्त होता है। इस पाठ के द्वारा विनय भाव से वंदनीय और पूजनीय व्यक्ति को विशिष्ट सम्मान दिया जाता है। सामान्य सम्मान तो हर आदमी को दिया जाता है, पर विशिष्ट सम्मान सामान्य रूप से आम आदमी को नहीं, किसी विशिष्ट व्यक्ति को दिया जाता है। ऐसा सम्मान हर किसी के प्रति नहीं होता है।

धार्मिक जगत में दो परम्पराएँ प्रचलित है। एक मूर्तिपूजक परम्परा, जो मूर्तिपूजा में विश्वास करने वाली है। दूसरी अमूर्तिपूजक परम्परा, जिसकी उपासना पद्धति मूर्तिपूजा के रूप में नहीं है। दोनों परम्पराएँ जैन शासन में भी प्रचलित है। जैन शासन के अनेकानेक अनुयायी मूर्तिपूजा करने वाले हैं तो अनेक अनुयायी मूर्तिपूजा की पद्धति को अस्वीकार करने वाले हैं।

पूजा के सन्दर्भ में दो शब्द मननीय है-पूजनीय और पूजक। जिसकी पूजा की जाती है या जो पूजा योग्य है, अर्ह है, वह पूजनीय होता है और जो पूजा करने वाला है, वह पूजक होता है। भावपूजा को समझने के साथ-साथ द्रव्य पूजा को समझना भी अपेक्षित है - ठीक उसी प्रकार जैसे अहिंसा को समझने के लिए पहले हिंसा को समझना जरूरी है। अपेक्षित है कि हम द्रव्यपूजा को भी समझें।

मैंने जो निष्कर्ष निकाला है, वह यह है कि द्रव्यपूजा और भावपूजा पूजनीय और पूजक दोनों के साथ संबद्ध है। पूजनीय भी द्रव्य हो सकता है और पूजक की पद्धति में भी द्रव्यता हो सकती है। इस प्रकार पूजनीय और पूजक दोनों के संदर्भ में द्रव्य और भाव को

विश्लेषित किया जा सकता है।

पहले हम पूजनीय को लें कि द्रव्य और भाव पूजनीय कैसे? भगवान महावीर हमारे लिए पूजनीय है। जैन शासन में कौन ऐसा होगा जो भगवान महावीर को पूजनीय न मानता हो ? हम भगवान महावीर को क्या, किसी भी तीर्थंकर को लें, भगवान विमलनाथ को लें, किसी को भी ले लें, वे हमारे लिए पूजनीय हैं सभी तीर्थंकर हमारे लिए पूजनीय हैं। अब पूजनीय द्रव्य भी हो सकता है और भाव भी हो सकता है। प्रज्ञापुरुष जयाचार्य ने चौबीसी में सुन्दर कहा है -

नाम स्थापना द्रव्यविमल थी, कारज न सरे कोय।
भाव विमल थी कारज सुधरै, भाव जप्यां शिव होय ।।

भगवान विमलनाथ पूजनीय है, पर द्रव्य विमलनाथ नहीं है जब तक उन्होंने दीक्षा नहीं ली थी, गृहस्थ आश्रम में थे, तब तक विमलनाथ पूजनीय नहीं थे। गृहस्थ अवस्था में जो विमलनाथ थे, वे द्रव्य विमलनाथ तीर्थंकर थे, भाव विमलनाथ नहीं थे। जब तीर्थंकर बन गए तो भाव विमलनाथ हो गए।

मैं भूल न करूं तो परमपूज्य गुरुदेव तुलसी के श्रीमुख से मैंने प्राकृत का एक श्लोक सुना था -

नामजिणा जिणनामा ठवणजिणा हुंति पडिमाओ।
दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था।।

किसी का नाम है विमल, पर नाम विमल होने से कोई विमलनाथ भगवान नहीं हो जाएगा। विमलनाथ की जो प्रतिमा है, वह प्रतिमा भाव विमलनाथ नहीं है। गृहस्थावस्था में थे तो वह भाव विमलनाथ नहीं, द्रव्य विमलनाथ थे। केवलज्ञान हो गया, समवसरण में विराजमान हो गए तब भाव विमलनाथ हो गए। पूजनीय जब तक द्रव्य अवस्था में है, तब तक वह वस्तुतः पूजनीय नहीं होता। मूल अवस्था में आ जाए, तब भाव पूजनीय हो जाता है। किसी व्यक्ति को

प्रतिक्रमण का आदेश हो गया, दीक्षा का आदेश हो गया, पर उस समय तक वह द्रव्य साधु है, भाव साधु नहीं है। भाव साधु तो दीक्षा ग्रहण करने के बाद होगा। उससे पहले वह द्रव्य साधु होगा। इस तरह पूजनीय के साथ द्रव्य और भाव को देखा जा सकता है।

प्रश्न होगा - पूजक के साथ द्रव्य और भाव कैसे होता है ? एक आदमी भगवान विमलनाथ की पूजा करता है। विमलनाथ तो सामने साक्षात है नहीं, सामने उनकी प्रतिमा है। उस प्रतिमा की धूप-दीप आदि से जो पूजा की जाती है, वह द्रव्यपूजा है। धूप-दीप, फल-फूल आदि के बिना भावना से कोई पूजक तन्मय होकर विमलनाथ का स्मरण करता है, उनकी भक्ति करता है, वह पूजक भाव पूजा कर रहा है। इस प्रकार द्रव्य और भाव पूजनीय और पूजक दोनों के साथ जुड़ जाते हैं।

प्रतिमा अपने आप में चेतना शून्य जड़ पदार्थ है। यह किस आधार पर पूजनीय हो सकती है ? चैतन्य तो पूजनीय हो सकता है, पर प्रतिमा किस आधार पर पूजनीय हो सकती है,यह एक प्रश्न है? मेरी दृष्टि में द्रव्यपूजा अपने आप में एक विवादास्पद विषय है। भावपूजा का जहाँ तक प्रश्न है, मेरा अनुमान है कि मूर्तिपूजा को मानने वाले लोग भी भावपूजा को अस्वीकार नहीं करते और अमूर्तिपूजक भी भावपूजा को अस्वीकार नहीं करते है। इस प्रकार भावपूजा दोनों के द्वारा सम्मत है, लेकिन द्रव्यपूजा में विवाद है। एक परम्परा, एक विचारधारा द्रव्यपूजा को स्वीकार करती है तो दूसरी विचारधारा द्रव्यपूजा को महत्व नहीं देती, उसे अस्वीकार करती है।

मेरे विचार है कि ऐसे विवादास्पद विषयों पर कोई चर्चा होनी चाहिए। मूर्तिपूजा की मान्यता वाले कोई अधिकृत विद्वान आचार्य तथा अमूर्तिपूजा के सिद्धान्त को मान्यता देने वाले अधिकृत विद्वान आचार्य एक साथ बैठे और चर्चा करें। लेकिन वह चर्चा

प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिस्पर्धा या हार-जीत के रूप में न होकर स्वस्थ विचार-विमर्श, चिंतन-मंथन और समीक्षा गोष्टी के रूप में होनी चाहिए। मूर्तिपूजक आचार्य अपने तर्क प्रस्तुत करे और अमूर्तिपूजक आचार्य अपने तर्क प्रस्तुत करे। उसमें वह देखा जाए कि किसके तर्क में ज्यादा प्राबल्य है। अगर लगे कि सामने वाले का तर्क अकाट्य है, वहाँ प्रतिपक्ष इतना-सा कह दे कि हमारी परम्परा या मान्यता तो ऐसी नहीं है, पर आपके तर्क को काटना हमारे लिए संभव नहीं हो पा रहा है। बस, इतना-सा कह देना एक सीमा तक सत्य-साधना की अच्छी उपलब्धि है। परम्परा को छोड़ना संभव हो, न हो, इतना कहने का साहस बड़ी बात है। मेरे विचार है कि इस तरह की स्वस्थ चर्चा हो तो ज्ञान की वृद्धि हो सकेगी, विषय की स्पष्टता भी हो सकेगी और इस प्रकार के चिंतन-मंथन से सार रूप में कोई नवनीत भी निकल सकता है। यथार्थ बात किसी की भी हो, उसका असम्मान नहीं होना चाहिए।

जिसमें चेतना नहीं है, वह पदार्थ है, पुदगल है। उसकी धूप-दीप, फल-फूल आदि से पूजा की जाए, इसका क्या औचित्य ? संभवतः पाली की बात है। मेरे पास एक अमूर्तिपूजक मुनि आए। उनके साथ बातचीत का क्रम चला तो मैंने कहा-'धूप-दीप, फल-फूल आदि के द्वारा पूजा करना क्या सचित्त प्राणियों की हिंसा नहीं है?' जहाँ तक मेरी जानकारी है, जैन परम्परा के मूर्तिपूजक साधु पूजा में धूप-दीप, फल-फूल आदि का उपयोग नहीं करते है। मैंने उनसे कहा - 'आपका विश्वास मूर्तिपूजा में है, पर कम से कम हिंसा को रोकने के प्रयास तो किया जाना चाहिए। अपनी मान्यतानुसार पूजा-भक्ति करें, वह आपकी इच्छा, पर हिंसा से तो बचना चाहिए। यह हमारा एक चिंतन है कि भक्ति-पूजा में निरीह प्राणियों की हिंसा नहीं होनी चाहिए। जो पूजा, जो भक्ति बिना हिंसा के हो सकती है, उस भक्ति-पूजा के लिए निरीह प्राणियों की हिंसा क्यों होनी चाहिए?

एक पदार्थ या पुद्गल में सचेतन प्राणी जितना क्या सामर्थ्य

होगा? एक कहानी बहुत वर्ष पहले मैंने परमपूज्य गुरुदेव तुलसी के मुखारविन्द से सुनी थी। उसे मैं अपनी शैली में प्रस्तुत करना चाहुंगा -

एक भद्र महिला थी जो मूर्तिपूजा में विश्वास करती थी। उसके एक ही लड़का था जो पढ़ा-लिखा, चिंतनशील और थोड़ा गंभीर स्वभाव का था। मूर्तिपूजा में उसका विश्वास नहीं था। उसकी माँ प्रतिदिन मन्दिर जाती, लेकिन लड़का मन्दिर नहीं जाता था। यह बात उसकी माँ को अखरती थी। एक दिन माँ ने कहा-'आज तुम मेरे साथ मन्दिर चलो।' लड़के ने कोई उत्सुकता नहीं दिखाई। माँ ने उस पर मन्दिर चलने के लिए दबाव डाला। लड़का आज्ञाकारी था। माँ की आज्ञा मानकर वह उसके साथ मन्दिर गया। मन्दिर के परिसर में पहुँचते ही उसने कामधेनु (गाय) की एक सुन्दर प्रस्तर प्रतिमा देखी। लड़के ने उस गाय को दुहने की इच्छा व्यक्त की तो माँ बोली--तुम भोले हो। वह सजीव गाय नहीं, पत्थर की गाय है और पत्थर की गाय दूध नहीं देती।

लड़का माँ के साथ आगे बढ़ा तो मन्दिर के मुख्य द्वार के निकट शेर की प्रतिमा देखी। इतना सुन्दर, जैसे सचमुच जीवित शेर हो। लड़का डर गया। उसे भयभीत देखकर माँ ने कहा-'डरो मत, यह भी पत्थर का शेर है,ये हमे खाएगा नहीं। दोनों मन्दिर के गर्भगृह में पहुँचे। माँ ने विधिविधान से प्रतिमा की भक्ति और पूजा की। पूजा सम्पन्न होने के बाद लड़के ने कहा - 'माँ! अभी तुमने किसकी पूजा की ?' माँ ने कहा-'देखा नहीं,अभी मैंने भगवान की पूजा की।' लड़का बोला - 'माँ! भगवान भी तो पत्थर के है। जब पत्थर की गाय दूध नहीं देती, पत्थर का शेर किसी को नहीं मारता तो पत्थर के भगवान हमारा कल्याण कैसे कर सकते हैं?' माँ उसकी बात का जवाब नहीं दे सकी।

यह एक कहानी है और कहानी के दूसरे पक्ष भी हो सकते हैं। क्या पत्थर या धातु की प्रतिमा में ऐसी कोई शक्ति है जो किसी का

कल्याण कर दे। अपनी स्वयं की भावना और साधना से कल्याण हो सकता है, पर प्रस्तर प्रतिमा में इतना सामर्थ्य कहाँ कि वह किसी का कल्याण या उद्धार कर सके। कोई सचेतन है,उससे तो ज्ञान मिल सकता है, कोई प्रेरणा भी मिल सकती है, पुस्तक में लिखी हुई बातों को पढ़ने से भी ज्ञान मिल सकता है, पर जो निर्जीव है, अचेतन है, उसमें कोई चारित्र, कोई सम्यक्त्व और वैराग्य की साधना से निसृत कोई वीतरागता है क्या? अगर नहीं है तो फिर वह पुद्गल पदार्थ वंदनीय किस आधार पर हो सकता है? ये अमूर्तिपूजक विचारधारा के तर्क है। हालांकि किसी मूर्तिपूजक के साथ चर्चा की जाए तो मूर्तिपूजा के समर्थन में उसके भी अपने तर्क हो सकते हैं, किन्तु तर्क और चर्चा से कोई सारपूर्ण बात या निष्कर्ष निकल सकता है, ऐसा मेरा मानना है। अमूर्तिपूजक परम्परा की वह अवधारणा है कि जो अचेतन है, गुणशून्य और चारित्रशून्य है, वह पूजा के योग्य नहीं हो सकता।

अपने आराध्य की पूजा के लिए स्मृति की जाती है। जब प्रश्न होता है कि मूर्तिपूजा के पीछे आधार क्या है? अमूर्तिपूजक भी अपने आराध्य की स्मृति करते हैं और मूर्तिपूजक लोग भी अपने आराध्य की स्मृति करते हैं। स्मृति करने के दो साधन होते है- नाम और रूप। या तो नाम के द्वारा आराध्य की स्मृति की जाती है या रूप के द्वारा की जाती है। भगवान महावीर किसी के आराध्य है, उनकी स्मृति करना है तो स्मृति कैसे होगी? 'महावीर' शब्द मस्तिष्क में आते ही मानस पटल पर महावीर की प्रतिमा या आकार उभरता है और उनकी स्मृति हो जाती है। म-हा-वी-र शब्द में तो कोई गुण नहीं है,वह तो केवल चार अक्षर का अचेतन नाम है, पर महावीर का नाम मस्तिष्क में आते ही उनकी स्मृति हो जाती है। यह स्मृति नाम के माध्यम से, शब्द के माध्यम से हुई, इसलिए यह नाम से होने वाली स्मृति है।

स्मृति का दूसरा साधन है-रूप और आकार। महावीर की

प्रतिमा या चित्र को देखा और देखते ही परम प्रभु की स्मृति हो गई। इस प्रकार प्रतिमा या चित्र भी स्मृति का एक साधन है। जैसे नाम के द्वारा स्मृति होती है, वैसे ही रूप के द्वारा भी स्मृति हो जाती है। आकार-प्रकार को देखने से ज्यादा सरल तरीके से प्रभु की स्मृति हो सकती है। इस प्रकार नाम और रूप से भी स्मृति की जा सकती है। मेरा मानना है कोई व्यक्ति प्रतिमा की पूजा भले ही न करे, तन्मयता से नाम स्मरण के द्वारा प्रभु की भक्ति करे तो उसका कल्याण निश्चित है। धार्मिक जगत में मूर्तिपूजक और अमूर्तिपूजक दोनों परम्पराएँ प्रचलित है। जैन शासन में भी दोनों परम्पराएँ प्रचलित है। लेकिन यह स्पष्ट है कि तेरापंथ श्वेताम्बर जैन परम्परा मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करती। हमारे पुरखों ने जो रास्ता दिखाया या बताया है,वह अमूर्तिपूजा का है। उसको हमें समझना ही चाहिए। हालांकि समझना तो मूर्तिपूजा को भी चाहिए। इससे ज्ञान ज्यादा स्पष्ट हो सकेगा। सच्चाई को समझने का प्रयास हर आदमी को करना चाहिए, फिर वह किसी भी परम्परा या सम्प्रदाय से संबंधित हो। सच्चाई सबसे बड़ी चीज है। सम्प्रदाय, परम्परा और मान्यता से भी बड़ी सच्चाई है, इसलिए सच्चाई के प्रति आस्थावान होना चाहिए। सच्चाई के प्रति आस्था है तो मानना चाहिए कि भीतर में सम्यक्त्व की निर्मलता है। तेरापंथ और भावपूजा के संदर्भ में मैंने अनेक रूपों में विश्लेषण करने का प्रयास किया है। हम मूर्तिपूजा और अमूर्तिपूजा के विषय में तर्कों और आधारों को समझने का प्रयास करे।'

।। विज्ञप्ति - अंक 46 ता. 17-23 फरवरी 2013 ।।

अब पढ़ीये आचार्य श्री के संबोध की समीक्षा...

आगमिक एवं मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में द्रव्यपूजा एवं भावपूजा का समन्वयः

विज्ञप्ति नामक तेरापंथी साप्ताहिक मुख्य पत्र के वर्ष 18, अंक 46 (17-23 फरवरी 2013) में आचार्य श्री महाश्रमणजी का भावपूजा पर पावन संबोध दिया गया था। तेरापंथी आचार्य द्वारा जाहिर में मूर्तिपूजा के विषय में अपने विचार विस्तार से प्रगट किये गये हो ऐसा पहली बार देखने में आया। अपने संबोध में उन्होंने परम्परागत और अपनी व्यक्तिगत अमूर्तिपूजा की मान्यता का दृढ़ता से प्रतिपादन किया और साथ में मूर्तिपूजा के तर्कों एवं आचारों को जानने का प्रयास करने पर भार भी दिया है। उनकी उदारता को ध्यान में लेकर के कुछ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे मूर्तिपूजा को सहीरूप में समझा जा सकेगा।

☛ जैन धर्म ने इस दुनियाँ को स्याद्वाद दृष्टि की एक अद्भुत भेंट दी है।

स्याद्वाद हर वस्तु को अपेक्षा दृष्टि से देखना सीखाता है। जैसे कि एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र और भाई भी हो सकता है पर अलग-अलग अपेक्षा से। जिनशासन का हार्द उस अपेक्षा को समझने में है कि वस्तु किस अपेक्षा से बताई गई है। इसी संदर्भ में श्री आचारांग सूत्र का सूत्र याद आता है।

''जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा''

अर्थात् एक ही क्रिया से कर्मबंध या निर्जरा भी हो सकती है पर अपेक्षा से। इसके हार्द में पहुँचेंगे तो पता चलेगा कि बाह्य क्रिया भी मन के परिणाम के अनुसार वह आश्रव या संवर रूप बनेगी। अतः

जैन धर्म में मन का महत्त्व अत्यधिक बताया गया है और मन की भूमिका को लेकर ही विविध अनुष्ठान भी बताये गये हैं।

☛ मानव मन की एक विशेषता है कि वह चित्रमय जगत् से अत्यन्त जुड़ा हुआ है। बालक झुले में होता है तब भी उसके मनोजगत् पर झुले पर लटकाये हुए खिलौनों का साम्राज्य होता है। थोड़ा बड़ा होता है तो खिलौने, विडियो गेम्स, टी.वी., कार्टून आदि उसके मन को प्रभावित करते हैं। युवानी में सिनेमा आदि की अत्यधिक असर होती है जो उसे गुमराह भी करती है। अतः ऐसे आलंबन की जरूरत है जो हमेशा उसे सच्चे राह पर चलने की प्रेरणा करे।

☛ व्यक्ति अपने प्रियजन के विरह में उसका चित्र आदि अपने पास रखकर उसके वियोग के दुःख को कुछ कम करता है, वह चित्र भी उसे प्रियजन की तरह अत्यन्त प्रिय होता है। यह मानव मन का सहज स्वभाव है। स्वामी विवेकानन्दजी के प्रसंग से भी इसी बात की पुष्टि होती है।

स्वामी विवेकानन्दजी का अलवर के राजा के साथ मूर्तिपूजा के विषय में वार्तालाप हुआ। राजा को मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं था वह अपनी मान्यता में दृढ़ था। स्वामीजी ने राजा के पिता की तस्वीर का अपमान किया तो वह क्रोधित हो गया। तब स्वामीजी ने समझाया कि वस्तु जड़ हो फिर भी मानव का स्वभाव है कि वह स्थापना रूप चित्र या मूर्ति में आस्था रखता ही है। इसलिए तो राष्ट्रध्वज जड़ है फिर भी प्रत्येक राष्ट्रभक्त की आस्था उसके साथ जुड़ी हुई है, उसका अपमान करना तो कानूनी अपराध भी माना गया है।

आचार्य श्री स्वयं भी इस हकीकत को स्वीकारते हैं। देखें उन्हीं के शब्द :-

प्रश्न : तेरापंथ-भवन में अथवा तेरापंथी घरों में इतर सम्प्रदाय के साधु-साध्वी रहते हैं, तो तेरापंथी आचार्यों की फोटो को उल्टी करवा देते हैं अथवा कोई लाल कपड़ा ढकवा देते हैं। क्या यह

उचित है ?

उत्तर : श्रावक समाज की दिशा-निर्देशिका में यह लिखित निर्देश दिया हुआ है कि अन्य सम्प्रदाय के आचार्य या साधु-साध्वीयाँ कोई भी ठहरे तो स्थान देने की मना नहीं है, पर आचार्यों की फोटो को आवृत्त करना अथवा उनको उतारना स्वीकार नहीं करना चाहिये। (शिलान्यास धर्म का, पृष्ठ सं. 70, आचार्य महाश्रमणजी)

श्री दशवैकालिक सूत्र की गाथा ''चित्तभित्तिं न निज्झाए' भी यह सूचित करती है कि स्त्री आदि के चित्रों को साधु न देखें। क्योंकि उन चित्रों से राग के संस्कार प्रगट हो सकते हैं।

चित्रजगत् से मानव मन पर होने वाली असर को देखने के बाद हम देखते है कि धार्मिक जगत में इसका क्या योगदान है।

☛ जैसे प्रिय व्यक्ति के विरह में व्यक्ति चित्र आदि रखता है, उसी तरह तीर्थंकरों के विरह में अपनी कृतज्ञता एवं भक्ति प्रदर्शित करने के लिए आलम्बन जिनप्रतिमा है। भक्त अपनी भक्ति के भावों को जिनप्रतिमा के आगे प्रगट करता है और साक्षात् तीर्थंकर की भक्ति का फल प्राप्त करता है। यह बात निराधार नहीं परन्तु योगग्रंथों के सर्जक, सूरिपुरंदर, 1444 ग्रंथों के रचयिता एवं अपनी माध्यस्थ दृष्टि के लिए आधुनिक विद्वानों में भी अत्यन्त लोकप्रिय ऐसे पूज्यपाद आ. श्री हरिभद्रसूरिजी ने अपने संबोध प्रकरण में कहा है कि :-

''तम्हा जिणसारिच्छा जिणपडिमा सुद्धजोयकारणया
तब्भत्तीए लब्भइ जिणिंदपूयाफलं भव्वो।।'' (18)

अर्थात् मनवचनकाय के योगों की शुद्धि का कारण होने से जिन प्रतिमा साक्षात् जिन जैसी है और उसकी भक्ति से भव्य जीव जिनेन्द्र की पूजा का फल प्राप्त करता है। क्योंकि आकृति की असर मन पर होती है और मन ही कर्मबंध आदि में मुख्य कारण है।

☛ आचार्य श्री ने संबोध में कहा कि - ''जैसे अहिंसा को

समझने के लिए हिंसा समझनी जरूरी है, उसी तरह भावपूजा के पहले द्रव्यपूजा समझनी जरूरी है।'' ऐसा कहकर के द्रव्यपूजा को भावपूजा का प्रतिपक्ष बताया है। परन्तु हकीकत यह है कि द्रव्यपूजा भावपूजा का प्रतिपक्ष नहीं है, किन्तु उपष्टंभक है। जैसे बाह्य तप अभ्यंतर तप का पूरक होता है, उसी तरह द्रव्यपूजा भावपूजा की पूरक है परन्तु प्रतिपक्ष नहीं है।

द्रव्यों की दुनियाँ में जीने वाले और द्रव्य के द्वारा जिनके भावों पर अत्यधिक असर होती है ऐसे गृहस्थ जो द्रव्य का संचय करते हैं, उनके द्रव्य की मूर्च्छा त्याग करवाने में कारण होने से एवं भक्ति के भावों में विशेष वृद्धि का कारण होने से द्रव्यपूजा श्रावक की भूमिका तक विशेष आदरणीय है।

☛ आचार्य श्री के संबोध के सार रूप निम्न बातें ध्यान में आयी जिन पर विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं -

1. द्रव्य निक्षेप पूजनीय नहीं जैसे गृहस्थावस्था में विमलनाथ भगवान अपूजनीय थे।
2. प्रतिमा चेतना शून्य होने से पूजनीय नहीं है।
3. द्रव्य पूजा में धूपदीप आदि का निषेध क्यों नहीं है ?

''नामजिणा जिणनाम ठवणजिणा पुण जिणिंदपडिमाओ
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था।।''(16)

इस श्लोक द्वारा आ. श्री ने द्रव्य विमलनाथ का अर्थ गृहस्थ अवस्था में रहे विमलनाथ किया और उन्हें अपूजनीय बताया है परन्तु यह श्लोक जिस ग्रंथ का है उसके ठीक आगे का ही श्लोक यह है :-

''जेसिं निक्खेवो खलु सच्चो भावेण तेसिं चउरो वि।
दवाइया सुद्धा हुंति, ण सुद्धा असुद्धस्स ।।''(17)

यह श्लोक 1444 ग्रंथ के रचयिता, सूरिपुरंदर, आचार्य श्री हरिभद्रसूरि भगवंत रचित संबोध प्रकरण का है, जिसका अर्थ यह

होता है कि जिसका भावनिक्षेप शुद्ध है, उसके द्रव्यादि चारों निक्षेप शुद्ध होते हैं यानि विमलनाथ भगवान का भाव पूज्य एवं पवित्र है तो उनका नाम, स्थापना, द्रव्य निक्षेप भी पूज्य एवं पवित्र होगा अर्थात् गृहस्थावस्था में भी विमलनाथ भगवान पूज्य होते हैं।

☛ आचार्य श्री ने गृहस्थावस्था में विमलनाथ भगवान को अपूजनीय बताया परन्तु शायद उन्होंने जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति के पाठ पर ध्यान नहीं दिया है ऐसा लगता है क्योंकि जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति के पंचम वक्षस्कार में बताया है कि ऋषभदेव भगवान का जन्म होने पर इन्द्र ने भक्ति भाव से शक्रस्तव द्वारा स्तवना की एवं मेरू पर्वत पर हजारों कलशों द्वारा जन्माभिषेक किया। उसके बाद भी विविध पूजाएँ एवं स्तवना की। इससे तीर्थंकर के द्रव्य निक्षेप की पूजनीयता सिद्ध होती है।

☛ उसी तरह जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति के द्वितीय वक्षस्कार में बताया कि आदिनाथ भगवान के निर्वाण पश्चात् इन्द्र महाराज आदि उनके शरीर की प्रदक्षिणा करते हैं तथा क्षीरोदक से स्नान, गोशीर्ष चन्दन से लेप, वस्त्र अलंकार आदि से विभूषित करते हैं एवं अग्नि संस्कार के पश्चात् शेष रही हुए दाढाएँ एवं अस्थियों को देव यथायोग्य लेकर उनकी अर्चना आदि करते हैं। इस प्रकार आगम से हम जान सकेंगे कि चैतन्य शून्य शरीर एवं अस्थियाँ भी पूजनीय होती हैं।

☛ वर्तमान में भी मूर्तिपूजक हो या अमूर्तिपूजक, किसी भी संप्रदाय के आचार्य के देवलोक होने पर भक्तों की भीड़ उनकी अंतिम यात्रा में आ जाती है एवं उनके अंतिम दर्शन के लिए लालायित होती है। हालांकि वहाँ तो केवल मृत शरीर है फिर भी उसका बहुमान आदि करते हैं। अगर देवलोक होने वाले आचार्य बहुत बड़े हो तो उनकी अंतिम यात्रा में तो हजारों लोग देश के कोने-कोने से आते हैं एवं उनकी खाने-पीने की व्यवस्था भी स्थानिक लोग करते हैं। उनमें स्थावरकाय की एवं अयतना के कारण त्रस जीवों की भी बहुत हिंसा

होती है, लेकिन वह गौण मानी जाती है। राजकीय स्तर के पदाधिकारी भी आकर के पुष्पांजलि अर्पित करके शरीर की अर्चना करते हैं एवं भक्तजन उसे देखकर अपने गुरू का बहुमान हो रहा है, ऐसा महसूस करते हैं। वह कोई गलत बात भी नहीं क्योंकि ये मानव मन का स्वभाव है कि नाम, स्थापना एवं द्रव्य द्वारा भाव से जुड़ा जाता है। वस्तु जड़ होने हुए भी पूज्य के संबंधित होने पर पूज्य बनती है। इसी तरह जिन प्रतिमा को चेतना शून्य होने से अपूजनीय मानने की बात भी नहीं रहती है।

☛ आचार्य श्री ने पत्थर की गाय का उदाहरण देकर मूर्तिपूजा से कल्याण होने का निषेध किया। उदाहरण में गाय की मूर्ति से बालक ने दूध की अपेक्षा की। परन्तु गाय की मूर्ति कभी दूध के लिए बनाई नहीं जाती है। चित्र एवं मूर्ति का संबंध मन से है, वे मन के परिणामों को ध्यान में लेकर ही बनाये जाते हैं।

☛ घर पर गुरु आदि की तस्वीरें बातें करने या उपदेश सुनने के लिए नहीं रखी जाती परन्तु वे स्मरण आदि के द्वारा उच्च आदर्श देती है। यह तो सर्वविदित ही है।

☛ टी.वी. आदि के दृश्य भी जड़ होते हुए भी मन के परिणामों पर भारी असर करते है।

☛ इसी तरह भगवान की मूर्ति के दर्शन एवं पूजन से मन में श्रद्धा-समर्पण आदि के शुभ भाव उत्पन्न होते हैं। जिनसे सम्यग्दर्शन आदि की शुद्धि होती है। यह आत्म कल्याण में अत्यन्त सहायक है। अतः भगवान की मूर्ति से आत्म कल्याण होता है, यह समझ सकते है, क्योंकि आत्म कल्याण मुख्यतया मन के परिणामों पर निर्भर है। अतः पत्थर की गाय के दृष्टांत में गलत धारणा कर लेना उचित नहीं है।

☛ विशेष में रायपसेणीय सूत्र में सूर्याभदेव द्वारा की गयी जिनप्रतिमा की पूजा आदि का वर्णन आता है। उसकी पूजा को

कल्याणकारी भी बताया गया है। इस तरह आगम से भी जिनप्रतिमा की पूजनीयता स्पष्ट होती है।

☛ द्रव्य लेश्याओं की असर भाव लेश्याओं पर पड़ती है और द्रव्य लेश्या पुद्‌गल रूप है। भगवान की मूर्ति शांत रसमय परमाणुओं से बनी होने से उसके आभा मण्डल में भी शांतरस के परमाणु होते हैं। अतः उसकी निश्रा में जाकर व्यक्ति की लेश्या शुभ हो जाती है। यह मूर्ति का स्वभाव है कि वह शुभ लेश्या उत्पन्न करने में परमनिमित्त कारण बनती है।

☛ आचार्य श्री का प्रश्न था कि द्रव्य पूजा में धूप दीप आदि का निषेध क्यों नहीं ? पहले हमें देखना है कि आगमों में भी देवों द्वारा जिन जन्म आदि अनेक प्रसंगों पर तीर्थंकरों के अभिषेक आदि किये जाते हैं एवं प्रसंग पर शाश्वत प्रतिमाओं की पूजा भी की जाती है। उन सब में भी हिंसा होती है।

स्वयं करूणासागर तीर्थंकर उसका निषेध क्यों नहीं करते ?

सम्यग् दृष्टि देव ऐसा क्यों करते हैं ?

इनके उत्तर के लिए हमें पहले थोड़ी बात समझनी पड़ती है कि-

☛ पंच महाव्रत धारी, षट्काय रक्षक साधु भगवंत सर्व पापों से विरत है एवं उन्होंने सर्व द्रव्यों का त्याग कर दिया है और उन्हें द्रव्य की मूर्च्छा भी नहीं होती है। अतः उन्हें द्रव्य पूजा की भी आवश्यकता नहीं है।

श्रमण जीवन निवृत्ति प्रधान होता है। श्रावक जीवन प्रवृत्ति प्रधान होता है। श्रावक का मन निवृत्ति के लिए इतना परिपक्व नहीं होता है, जबकि मन का प्रवृत्ति मार्ग में अनादि काल से अभ्यास है, इसलिए वह बहुधा अशुभ प्रवृत्तियों में जुड़ जाता है। उन अशुभ प्रवृत्तियों के रस को तोड़ने के लिए शुभ प्रवृत्तियाँ भी की जाती है,

जैसे वाहन द्वारा चातुर्मास आदि में गुरू भगवंतो को वंदन के लिए जाना, पुस्तकें छपवाना, साधर्मिक भक्ति करना, शिविरों का आयोजन करना, जीवदया के लिए गाय को घास देना, कबूतर को चुग्गा देना, गौशाला चलाना, आराधना के लिए स्थानक, भवन आदि का निर्माण करना इत्यादि। इन सभी में अध्यवसाय शुभ होते हैं परन्तु साथ में आनुषंगिक रूप से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा भी होती है, फिर भी इन प्रवृत्तियों का निषेध नहीं किया जाता है, क्योंकि किसी प्रवृत्ति में हिंसा का आनुषंगिक रूप होने मात्र से उस प्रवृत्ति का निषेध नहीं किया जाता, व्यक्ति की भूमिका के अनुसार प्रवृत्ति हेय अथवा उपादेय बनती है।

☛ श्रावक की भूमिका में ये प्रवृत्तियाँ बाधक नहीं होती है। उसी तरह से द्रव्यों की मूर्च्छा का त्याग एवं भक्ति के भावों की विशेष वृद्धि का कारण होने से अविरति की भूमिका में श्रावक के लिए द्रव्य पूजा का निषेध नहीं है। अगर श्रावक सामायिक-पौषध में है तो उसके लिए वाहन द्वारा गुरूवंदन के लिए जाना, घास डालना आदि की तरह द्रव्यपूजा का भी निषेध है, क्योंकि उसकी भूमिका बदल गई है। इसलिए एकांत नहीं परन्तु द्रव्य पूजा भूमिकानुसार की जाने वाली भक्ति रूप है। यह समझने पर ही हम आगमों में आते जन्माभिषेक आदि अनेक प्रसंगों पर सम्यग्दृष्टि देवों आदि की भक्ति को समझ सकेंगे और उस भक्ति में स्थूल हिंसा की अबाधकता भी जान सकेंगे।

☛ यह समझने पर ही जैन दर्शन के अनेकांतवाद को सही रूप से समझ सकेंगे। सार रूप इतना ही समझना है कि मन के आधार पर कर्मबंध आदि है और उसको लक्ष्य में लेकर अगर जिनशासन के हर अनुष्ठानों को समझने की कोशिश करेंगे तो उन्हें सही न्याय दे सकेंगे।

ध्यान रहे कि द्रव्य पूजा अपने पूज्य के प्रति बहुमान दिखाने का एक तरीका है। जैसे घर में जमाई आता है तो उसके प्रति बहुमान को बताने के लिए उसकी उत्कृष्ट द्रव्यों से भक्ति, शक्ति अनुसार की

जाती है। उसी तरह श्रावक उत्कृष्ट द्रव्यों से भक्ति करके अपनी प्रीति प्रदर्शित करता है।

☛ अंत में आचार्य श्री ने बताया कि "अपने आराध्य की पूजा के लिए स्मृति की जाती है..........स्मृति करने के दो साधन होते है - नाम और रूप........म-हा-वी-र शब्द में तो कोई गुण नहीं है, यह तो केवल चार अक्षर का अचेतन नाम है, पर महावीर का नाम मस्तिष्क में आते ही उनकी स्मृति हो जाती है....... जैसे नाम के द्वारा स्मृति होती है, वैसे ही रूप के द्वारा भी स्मृति हो जाती है। आकार-प्रकार को देखने से ज्यादा सरल तरीके से प्रभु की स्मृति हो सकती है"। इस प्रकार आचार्य श्री नाम को भी मूर्ति की तरह जड़ मानते है और मूर्ति को नाम से भी स्मृति का विशेष साधन मानते है, परन्तु उपसंहार में कहा है कि - "मेरा मानना है, कोई व्यक्ति प्रतिमा की पूजा भले ही न करे, तन्मयता से नाम स्मरण के द्वारा प्रभु की भक्ति करे तो कल्याण निश्चित है।" इस प्रकार केवल नाम को ही महत्व देते हैं।

नाम और रूप से बात शुरू की और रूप की शक्ति को नाम से अधिक मानते हुए भी उपसंहार में केवल नाम-स्मरण की प्रेरणा की। इसमें उचित न्याय प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि **नाम भी जड़ है तो भी नाम स्मरण की प्रेरणा की जाती है, उसी प्रकार कम से कम प्रभु दर्शन की प्रेरणा भी की जा सकती है।**

अतः सभी से अनुरोध है कि इस लेख को तटस्थता से पढ़कर स्याद्वाद दृष्टि, मनोवैज्ञानिक दृष्टि, आगमिक दृष्टि एवं तर्क से द्रव्यपूजा एवं भावपूजा का समन्वय समझकर मूर्तिपूजा को सही रूप से समझने का प्रयास करें।

जिनाज्ञा के विरूद्ध कुछ लिखा गया हो तो मिच्छामि दुक्कड़म्।

- भूषण शाह

प्रतीकोपासना : एक दृष्टि

— **ललित नाहटा**

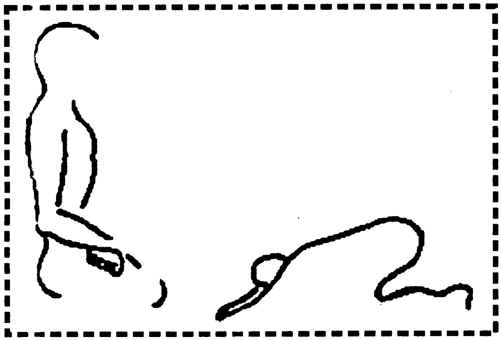

प्रतीकोपासना को आध्यात्मिक जगत में प्रवेश की प्रारम्भिक व अत्यावश्यक अवस्था जानकर स्वीकार किया जाना चाहिए। प्रारम्भिक अवस्था में साधक को साध्य की ओर अग्रसर होने के लिए साधन/माध्यम की आवश्यकता होती है। साधना के उच्च स्तर पर पहुँचने के बाद संभव है कि कुछ महापुरुषों के लिए इन साधनों/माध्यमों का आलम्बन आवश्यक न हो, परन्तु फिर भी उन्हें यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि इन साधनों का आश्रय लेना अनुचित है। इसी संदर्भ में स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो (अमेरिका) में आयोजित विश्व धर्म परिषद में नौवें दिन 19 सितम्बर 1893 को अपने व्याख्यान में कहा था, 'बाल्य यौवनादि का जन्मदाता है तो क्या किसी वृद्ध पुरुष को अपने बचपन या युवावस्था को पापमय या बुरा कहना उचित होगा ?

सभी मनुष्य जन्म से मूर्तिपूजक है और मूर्तिपूजा अच्छी चीज है, क्योंकि वह मानव प्रकृति की बनावट के अन्तर्गत है। मन में

आराध्य की आकृति/रुप को लाये बिना कुछ सोच सकना उतना ही असंभव है, जितना की श्वास लिए बिना जीवित रहना।

परमात्मा की मूर्तिपूजा कोई पापाचार नहीं है वरन् यह तो अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का माध्यम है, उपाय है। परमात्मा की मूर्ति के माध्यम से सरलता से ब्रह्म भाव का अनुभव हो सकता है तो क्या उसे पाप कहना ठीक होगा ? और जब वह उस अवस्था से परे पहुँच गया है तब भी उसके लिए मूर्तिपूजा को भ्रमात्मक कहना उचित नहीं है।

अपनी-अपनी मान्यतानुसार सभी प्रत्यक्ष या परोक्ष रुप से प्रतीकोपासना करते हैं। मुसलमान धर्म के अनुयायी भी नमाज के वक्त अपने आपको काबा की मस्जिद में खड़ा अनुभव करते हैं। मस्जिद का एक विशेष आकार, प्रकार या रुप भी तो प्रतीक ही है उनके शुद्ध धार्मिक स्थल का। ईसाइयों का गिरजाघर भी पवित्र स्थान का प्रतीक है। ईसाइयों के प्रोटेस्टेंट समुदाय में क्रॉस के चिन्ह को वही स्थान प्राप्त है जो ईसाइयों के कैथोलिक समुदाय में धार्मिक मूर्तियों को है। गुरुद्वारा सिक्ख सम्प्रदाय के धार्मिक स्थान का प्रतीक है, उसमें उनका ग्रंथ भी पूजन-वंदन के लिए प्रतीकस्वरूप ही है।

मूर्ति जड़ है इसलिए हमें ज्ञान नहीं मिलता, यह कथन उचित नहीं बल्कि, भ्रामक दुष्प्रचार मात्र है। पाषाण प्रतिमा भले ही जड़ हो, लेकिन उसकी वैराग्य व वीतराग मुद्रा चेतन है। दर्शन भी मूर्ति का नहीं, मुद्रा का करते है। मूर्ति/प्रतिमा की मुद्रा के दर्शन कर हम मार्गदर्शन पाते है। प्रतिमा मार्गदर्शन नहीं देती, हमें स्वयं उससे मार्गदर्शन लेना होता है दिशा बोधक पत्थर की तरह। हम नित्य दिशा बोधक पत्थर को देखते है जो मौन खड़ा रहता हैं, कुछ नहीं कहता, प्रतिक्रिया रहित। पर हम अपनी दृष्टि से उसे पढ़ लेते है और दिशा निश्चित कर अपने ध्येय की ओर अग्रसर हो जाते है। बस, ऐसा ही कुछ संकेत हम परमात्मा की प्रतिमा में भी पाते है। अगर हमारे पास

दृष्टि है, चाह है, तो जड़ के माध्यम से भी लक्ष्य पर पहुँच सकते है। चाहे जड़ हो या चेतन, महत्व सभी का है। चेतन के अभाव में तो मानव शरीर भी जड़ है, और मानव देह बिना तो चेतन भी परमात्म पद ग्रहण नहीं कर सकता। ज्ञान भंडारों में रखे बड़े-बड़े ग्रंथ भी तो जड़ ही है। जो हमें ज्ञान का सुगम मार्ग उपलब्ध कराते हैं। इस तरह अंतर्भावों के द्वारा परमात्मा की प्रतिमा को दर्पण बनाकर उपासक स्वयं से साक्षात्कार करता है और आत्मा से परमात्मा बनने का सीधा और सरल उपाय प्राप्त करता है।

उपासना में मूर्तिपूजा का प्रतीकात्मक महत्व तो है ही, दर्शनात्मक महत्व भी है। जो देखकर जाना जा सकता है, उसको समग्र रूप से शास्त्र बताने में समर्थ नहीं है। दूसरे लिखने वालों के विचारों से प्रभावित होने के कारण शास्त्र विकृत रूप ले लेते है। विकृति को आगे से रोकने के लिए तथा सभी को भेद-भाव रहित समझ देने के लिए मूर्तियां विवादरहित होती है। दृश्य वह संदेश दे देता है जो हजार शब्द भी नहीं दे सकते। स्वयं की इन्द्रियों द्वारा किया गया अनुभव (देखकर, सुनकर, सूंघकर, छूकर, चखकर) 100 वर्षों के अध्ययन से बढ़कर है। अगर आप पूर्ण श्रद्धा से अपने श्रद्धेय की मूर्ति या चित्र का दर्शन करते हैं तो उसमें असीम सुख व शान्ति की प्राप्ति होती है जो किसी भी आनन्द से कम नहीं। उस श्रद्धेय की मूर्ति या चित्र, प्रारम्भिक अवस्था में साधक को आसानी से ध्यानावस्था में ले जाकर साधना की उस ऊंचाई पर ले जाता है जिसके बाद साधक को साध्य पाने के लिए साधन के सहारे की आवश्यकता नहीं होती।

चित्र को देखने मात्र से ही क्षण के एक छोटे से हिस्से में ही मन में विचार/भाव परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ अपने श्रद्धेय/आराध्य का चित्र देख मन में अथाह श्रद्धा उत्पन्न होती है, अपने पूर्वजों का चित्र देख मन में गौरव के भाव आते हैं, किसी योद्धा या वीर पुरुष का चित्र देखकर मन में वीरता के भाव उमड़ते हैं, किसी

भी बालक का चित्र देख वात्सल्य भाव मन में आते हैं जबकि रावण, कंस या शत्रुओं के चित्र देख मन में घृणा भाव या प्रतिशोध की भावना उत्पन्न होती है। जब भिन्न-भिन्न चित्रों को देखकर मन के भावों में तत्क्षण परिवर्तन आते हैं तो अपने आराध्य प्रभु की मूर्ति के दर्शन मात्र से ही अंतःस्थल में वीतरागता के भाव जाग्रत होंगे, इसमें किंचित मात्र संदेह नहीं।

परमात्मा की प्रतिमा के समक्ष जाते ही मन में श्रद्धा उमड़ पड़ती है, विनम्रता आ जाती है। मन में समर्पण के भाव हिलोरे लेने लगते हैं। गंभीर चिंतक श्री रजनीश के शब्दों में , मन्दिर में जब मूर्ति के चरणों में अपना सर रखते है तो सवाल यह नहीं है कि वे चरण परमात्मा के है या नहीं, सवाल इतना ही है कि वह जो चरण के समक्ष झुकने वाला सिर है, वह परमात्मा के सामने झुक रहा है या नहीं। वे चरण तो निमित्त मात्र है। उन चरणों को कोई प्रयोजन नहीं है। वह तो आप को झुकने की कोई जगह बनाने की व्यवस्था की है।

पूज्य स्वामी शिवानंद सरस्वती के कथनानुसार मनोविज्ञान भी इस तथ्य से सहमत है कि प्रतीकोपासना द्वारा मन की एकाग्रता अनायास मिलती है। प्रारम्भिक साधकों के लिए प्रतीकोपासना या मूर्तिपूजा का बहुत बड़ा महत्व है। मन को एक बारगी ब्रह्म में टिकाना बहुत मुश्किल है। साधना के क्षेत्र में उतरने के लिए पहले-पहले एक आलम्बन की आवश्यकता होती है। यह बाहरी पूजा है। इसके सहारे भगवान के रूपैश्वर्य का स्मरण किया जाता है। इस स्मरण से साधक की मनोवृत्ति धीरे-धीरे अंतर्मुखी होती जाती है और वह ईश्वर के सच्चिदानन्दमय स्वरूप को पहचानने के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व को भी पहचानने लगता है। कालांतर में यह पहचान बुद्धि ईश्वरत्व को ही स्मरण नहीं करती, अपितु स्वयं को उनसे अभिन्न साबित करती है। इस प्रकार मूर्तिपूजा की साधना उत्तम और उत्कृष्ट है।

सैनिक के लिए ध्वज सब कुछ है। ध्वज से उन्हें प्रेरणा मिलती

है। इसके सम्मान को वे अपना सम्मान तथा अपमान को अपना अपमान समझते है। ध्वज की मर्यादा की रक्षा के लिए आत्माहुति देने के लिए भी उद्यत रहते है। भक्तजनों का भी प्रतिमा के साथ ऐसा ही लगाव है।

कुछ लोग ऐसा भी बोल पड़ते है कि परमात्मा तो सर्वव्यापक, निर्गुण और निराकार है। फिर प्रतिमा में निबद्ध कैसे होगा ? अच्छी बात है। लेकिन क्या लोग परमात्मा को सर्वत्र देखकर तदनुकूल आचरण करते है? जो दृश्य के प्रति श्रद्धावनत नहीं हो सकता, वह अदृश्य से प्रेम कैसे कर पायेगा ? वास्तविक रहस्य तो उनके अहंकार में छिपा है। अहंकार से अभिभूत होकर वे प्रतिमा को नमस्कार नहीं करते। भगवान ही उनका कल्याण करें।

श्री जिनेश्वर देव की साधना जिस प्रकार उनके नाम स्मरण से होती है, उनके गुण स्मरण से होती है, उनके पूर्वापर के चरित्रों के श्रवण से होती है, उनकी भक्ति से होती है, उनकी आज्ञाओं के पालन से होती है। उसी प्रकार उनके आकार, मूर्ति या प्रतिबिम्ब की भक्ति से भी होती ही है - "यह सत्य जब तक स्वीकार न किया जाय तब तक श्री जिनेश्वर देव की कृत उपासना भी अपूर्ण ही रहती है।

नाम की भक्ति को स्वीकार करने के बाद आकार की भक्ति की उपेक्षा करना तो और भी भयानक भूल है। उपास्य का नाम केवल उसके गुणों को लक्ष्य कर नहीं होता परन्तु उसके देहाकार को लक्ष्य कर होता है। यदि उपास्य का नाम केवल उसके गुणों को लक्ष्य कर होता तो प्रत्येक उपास्य को भिन्न-भिन्न नाम देने की आवश्यकता ही नहीं रहती। विभिन्न उपास्यों के समान गुण होते हुए भी उनके देहाकार आदि समान नहीं होते इसीलिए ही प्रत्येक का नाम अलग अलग दिया हुआ रहता है। देहाकार के नाम की भक्ति का फल माने हुए साक्षात देहाकार की भक्ति को निष्फल मानना बुद्धि की जड़ता के सिवाय और कुछ नहीं है। नाम आदि कल्याणकारी है तो यह नाम

जिस स्वरूप का है वह स्वरूप अधिक कल्याणकारी है, इसमें किसी भी बुद्धिशाली व्यक्ति के दो मत हो ही नहीं सकते। नाम एवं आकार के बिना अरूपी उपास्य अथवा उनके गुणों का ग्रहण सर्वथा असंभव है।

उदाहरणस्वरूप एक मुसलमान अपने आराध्य की प्रतिमा को सीधी तरह से मानने से इन्कार करता है फिर भी एक छोटी मूर्ति और उसके अंगो की भक्ति के बदले उसके हृदय में पूर्ण मस्जिद, मस्जिद का पूरा आकार तथा उसके एक-एक अवयव की भक्ति आ ही पड़ती है। मूर्ति में विश्वास नहीं रखने वाला कट्टर मुसलमान मस्जिद की एक-एक ईंट को मूर्ति की तरह ही पवित्रता की दृष्टि से देखता है तथा उसकी रक्षा हेतु अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता। मूर्ति पर नहीं, परन्तु मस्जिद की पवित्रता पर उसका इतना विश्वास बैठ जाता है कि उसके लिए वह अपने प्राण देने अथवा दूसरे के प्राण लेने को तैयार हो जाता है। मूर्ति के अपमान के स्थान पर उस मस्जिद का अपमान खटक जाता है।

मुस्लिम बाह्य से मूर्तिपूजक न होने पर भी जैसे हृदय से अपने इष्ट की मूर्ति का पुजारी है वैसे ही कोई आर्य समाजी, ब्रह्म समाजी अथवा प्रार्थना समाजी, कबीरपंथी, नानकपंथी, बाइसपंथी, तारणपंथी अथवा तेरापंथी का हृदय भी इष्ट की मूर्ति की भक्ति की उपेक्षा नहीं कर सकता। अपने इष्ट एवं आराध्य की प्रतिमा अथवा चित्र का अपमान इनमें से कोई भी सहन नहीं कर सकता। मूर्तिपूजक अथवा अपूजक दोनों को ऐसे प्रसंगों पर समान आंतरिक वेदना होती है, फिर भी जब आकार को नहीं मानने की बात होती है तब ऐसा ही लगता है कि ऐसी बाते केवल अज्ञानजनित ही है, विश्व के पदार्थों की वास्तविक अवस्था के अज्ञान से ही ऐसी बातों का जन्म होता है।

योगी चेतनानन्द कहते है - परमात्मा के अमूर्त रूप की कल्पना ठीक वैसी ही है जैसे अमूर्त अग्नि की कल्पना। अग्नि हर

जगह व्याप्त है लेकिन अमूर्त रूप में। ताप के लिए अग्नि का प्रकट होना अर्थात् मूर्त रूप में प्रकट होना आवश्यक है। अमूर्त रूप में अग्नि से ताप नहीं मिल सकता। अग्नि पत्थर में है, लकड़ी में है, घास में है, माचिस की तीली में है, लेकिन पत्थर, लकड़ी, घास या दियासलाई ताप प्रदान नहीं कर सकती, कारण वहाँ अग्नि अमूर्त है। जहाँ पत्थर, लकड़ी, घास या दियासलाई रगड़ खाते है अग्नि प्रकट होती है व ताप प्रदान करती है। इसलिए मूर्त रूप का ही महत्व है।

एकलव्य को गुरु द्रोणाचार्य ने भील होने के कारण धनुर्विद्या सिखाने से इंकार कर दिया तो बालक एकलव्य ने गुरू द्रोणाचार्य की मूर्ति बना गुरु की स्थापना कर धनुर्विद्या सीखी। जीवित गुरु की मिट्टी की मूर्ति के माध्यम से भील बालक एकलव्य अद्भुत असाधारण शब्दवेधी विद्या में इतना पारंगत हो गया कि अर्जुन भी आश्चर्यचकित रह गया, परमात्मा की मूर्ति से भक्त कुछ न पा सके, यह कैसे संभव है ?

प्रतीकोपासना के बिना व्यक्ति की वैसी ही स्थिति है जैसे तीरंदाज हवा में तीर चलाता है। तीरंदाज जब तक किसी प्रतीक को अपना लक्ष्य नहीं बनायेगा तब तक उसका तीर चलाना व्यर्थ है। पृथ्वीराज नेत्रहीन होकर भी आवाज के माध्यम से लक्ष्य पर तीर चलाकर अपनी सोच को पूर्ण कर सका। यहाँ साधक ने अपने साध्य तक पहुँचने के लिए कान का सहारा ले आवाज को साधन बनाया उसी तरह उपासक को साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन को माध्यम बनाना पड़ता है। यह बात और है कि उपासक साध्य को प्राप्त करते समय साधन को छोड़ देता है। इसका अर्थ यह नहीं कि बिना साधन के वह साध्य तक पहुँच पाया।

उदाहरणार्थ 'मुझे दिल्ली से श्री सम्मेत शिखर तीर्थ जाना है' यहाँ साधक मैं हूँ, साध्य सम्मेत शिखर तीर्थ, पहुँचने के लिए रेल या बस साधन है। रेल मार्ग तय करने के उपरान्त मुझे श्री सम्मेत शिखर

जी तीर्थ के लिए साधन (रेल) को त्यागना पड़ेगा तभी मंजिल पर पहुँच पाऊंगा लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि मंजिल पर पहुँचने के लिए जब साधक को छोड़ना ही है तो साधन का उपयोग क्यों करूं ? अगर ऐसा सोच लिया तो मैं दिल्ली में ही रह जाऊंगा। कभी अपनी मंजिल पर नहीं पहुँच पाऊंगा। उसी तरह आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार के लिए प्रतीकोपासना साधन है। साक्षात्कार के समय प्रतीक की आवश्यकता नहीं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जब अंत में प्रतीकोपासना को त्यागना ही है तो अपनायें किसलिए ? अपनाते है मंजिल तक पहुँचने के लिए व त्यागते है, मंजिल मिल जाने के समय।

परम् पूज्य पंन्यास प्रवर जैन मुनि श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य के शब्दों में - 'उपास्य की अनुपस्थिति में उसकी उपासना उपासक के लिए किसी मकान के प्लान के समान है। मकान की अनिर्मित अवस्था में कुशल कारीगर उसके प्लान को ही बार-बार देखकर भवन निर्माण के कार्य को पूरा कर सकता है। जब तक मकान पूरा नहीं बन जाता कारीगर को वह प्लान हर घड़ी अपनी नजरों के सामने रखना पड़ता है, ठीक उसी भांति अपनी आत्मा को उपास्य सम बनाने हेतु उपासक को, जब तक उपास्य जैसी निर्मलता प्राप्त नहीं हो जाती तब तक, उपास्य की स्थापना को प्रतिपल अपने सम्मुख रखना ही पड़ता है, यह सर्वथा स्वाभाविक है।

आत्मा मानव शरीर (साधन) को धारण करके ही मोक्ष (साध्य) को प्राप्त कर सकती है, परन्तु मोक्ष प्राप्त करने के लिए मानव शरीर का त्याग करना पड़ता है। आत्मा अगर यह सोच ले कि मानव शरीर छोड़ना ही है तो धारण ही क्यों करें ? तो उसे कभी साध्य की उपलब्धि नहीं होगी, क्योंकि सशरीर मोक्ष नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि साध्य की प्राप्ति के लिए साधन महत्वपूर्ण व आवश्यक है। इस प्रकार परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए मूर्ति/प्रतीक का आलंबन अति आवश्यक है।

मूर्तिपूजा के विरोधी कुछ सन्त मूर्ति को मात्र पाषाण मानते हैं/ कहते हैं, जबकि पाषाण (पत्थर) व पाषाण से बनी मूर्ति में अंतर तो निश्चित है, जैसे एक कोरे कागज व एक चित्रित कागज में अंतर है या यों कहें कि एक कोरे कागज पर पैर रखकर चलने में संकोच नहीं लेकिन उसी पर अपने आराध्य का चित्र या मंत्र छपा हो तो या रुपये का मूल्य छपा हो तो क्या पाँव रखने की हिम्मत जुटा पायेंगे ? बैंक का चैक जब तक हस्ताक्षरित न हो तब तक उस चैक का मूल्य नहीं, मात्र हस्ताक्षर करते ही वह लाखों-करोड़ों या अरबों की कीमत का हो सकता है। पाषाण की मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा होने के बाद तो वह परम आदरणीय एवं वंदनीय हो जाती है जैसे कोरा चैक हस्ताक्षरित होने के उपरान्त महत्वपूर्ण हो जाता है (बशर्ते उस खाते में उस सममूल्य का रुपया जमा हो) जब कोई कागज पर लिखने मात्र से उसके मूल्य में, उसके प्रति भाव में अंतर आ जाता है तो एक पाषाण को मूर्ति का रुप देने के बाद उसके प्रति भावों में अंतर न आये, यह कैसे संभव है ?

परमात्मा की मूर्ति का विरोध करने वाले पाषाण व धातु की मूर्ति को पाषाण व धातु से अधिक कुछ नहीं मानते। मैंने एक अमूर्तिपूजक संत, जो अपने सम्प्रदाय का नेतृत्व करते है, उन्हें लिखा था कि आप मूर्ति को मात्र पाषाण या धातु न मानकर जिस व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष की मूर्ति है उसकी मूर्ति माने। परमात्मा की मूर्ति को परमात्मा माने तो मिथ्यात्व हो सकता है पर परमात्मा की मूर्ति को परमात्मा की मूर्ति मानना कैसे मिथ्यात्व होगा? मूर्तिपूजक भी परमात्मा की मूर्ति का पूजन वन्दन करते समय भावना से/ साधक के माध्यम से साध्य का पूजन-वंदन करते है। धर्म तो है ही भावना प्रधान। मूर्ति का इस भावना से पूजन वंदन, कि हम परमात्मा का पूजन-वन्दन कर रहे है, फल निश्चित ही मिलेगा।

कल्पना कीजिये, आपने मूर्तिकार के यहाँ एक पाषाण पड़ा

देखा आपके मन में कोई विचार परिवर्तन नहीं हुआ। आपने अपन पूर्वजों की या अपने आराध्य की मूर्ति बनाने को मूर्तिकार को कहा व एक निश्चित समयोपरांत उस मूर्तिकार के पास गये वहाँ पर उस पत्थर के स्थान पर उसी पत्थर की बनी अपने पूर्वजों की या आराध्य की मूर्ति देखी तो अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति हुई, गौरव का अनुभव हुआ, श्रद्धा मन में उमड़ पड़ी। ऐसा क्यों होता है, क्या कभी आपने सोचा ? पत्थर तो पत्थर है लेकिन कुशल मूर्तिकार द्वारा उसका एक निश्चित रूप दे देने के कारण आप उसे पत्थर न मानकर, जिसकी मूर्ति है उसी का रूप मानेंगे व उसी के अनुरूप मन के भाव परिवर्तित होंगे।

मूर्तिपूजा का विरोध किन परिस्थितियों में व कब हुआ, यह चिंतन व शोध का एक गंभीर विषय है। इसके साथ ही इस गहराई में भी जाने की आवश्यकता है कि मूर्तिपूजा के विरोध का आधार क्या है? इस विषय पर शोधकार्य अमूर्तिपूजक अथवा मूर्तिपूजा का विरोध करने वाले भी अपने विद्वान संत/साध्वियों द्वारा करा सकते हैं, यदि वे तटस्थ व पूर्वाग्रह से मुक्त होकर कर सकें। क्या सही मायनों में विरोध की शुरूआत मूर्तिपूजा से हुई या मूर्तिपूजा की पद्धति से विरोध हुआ? मूर्तिपूजा में आडंबर के कारण मूर्तिपूजा का विरोध या मूर्तिपूजा में आई रूढिवादिता को समाप्त करने के लिए मूर्तिपूजा का विरोध प्रारम्भ हुआ ? या फिर मुगलों द्वारा मन्दिर व मूर्ति तोड़े जाने के कारण एक गुट ने निर्णय लिया कि नये सिरे से मन्दिर व मूर्तियाँ न बनाई जायें। वही गुट कालांतर में मूर्ति व मन्दिर का विरोधी कहलाने लगा। या मुगलों के आतंक के कारण परिस्थितिवश मूर्तिपूजा व मन्दिर जाना बंद किया गया या मुगलों की खुशामदी करने के लिए कुछ लोगों ने मूर्तिपूजा को गलत बताना शुरू किया या समाज में अपने अस्तित्व की पहचान बनाने के लिए अपनी एक नई सोच समाज को देने के नाम पर मूर्तिपूजा का विरोध किया।

कारण कुछ भी रहा हो भारत में मूर्तिपूजा विरोधी सोच का जन्म मुगलों के भारत में आने के बाद हुआ यह ध्रुव सत्य है। क्योंकि किसी भी नई विचारधारा के जन्म में आस-पास के वातावरण का प्रभाव ही प्रमुख होता है।

जब भी इस विषय पर शोध की बात चलती है कि मूर्तिपूजा का विरोध करने वाले हरदम इसी की खोज पर जोर देते है कि मूर्तिपूजा कब से शुरू हुई और क्यों हुई एवं इसके प्रमाण के लिए जिद करते हैं। अपनी आस्था के कमजोर होने के भय से जानबूझ कर इस बात की खोज करने का प्रयास नहीं करते कि इसका विरोध कब से या क्यों हुआ ? मूर्ति पूजा क्यों शुरू हुई, इसका कारण तो इस लेख में मिल जाता है लेकिन कब से शुरू हुई, यह प्रमाणित करना उतना ही मुश्किल है जितना कि व्यक्ति अपने पूर्वजों की प्रथम पीढ़ी को प्रमाणित करें। दूसरी तरफ यह तो प्रमाण उपलब्ध है कि मूर्तिपूजा का विरोध कब से शुरू हुआ व इस बात की खोज भी संभव है कि इसका विरोध क्यों हुआ ? जिसके प्रमाण उपलब्ध है जिसकी खोज संभव है, उस पर तो चर्चा नहीं की जाती और जिसके प्रमाण प्राप्त करना असंभव है, उसके लिए आग्रह किया जाता है। मात्र पूर्वाग्रह के कारण या अपनी कमजोर होती दिखाई पड़ती आस्था के कारण।

मेरा विनम्र अनुरोध है कि अपने समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर हमारे विद्वान/शोधार्थी शोध करें कि भारत में मूर्तिपूजा का विरोध कब, क्यों और कहाँ से प्रारम्भ हुआ ? निश्चित रुप से इस शोध के परिणाम से देश में इस विषय को लेकर एकमत बनेगा और भ्रम दूर होगा।

मूर्तिपूजा का महत्व
आ. तुलसी की दृष्टि में

आचार्य श्री अमूर्तिपूजक होते हुए भी सैकड़ों बार मन्दिरों में गए, वहाँ ठहरे, ध्यान, स्वाध्याय और भगवान की स्तवना भी की। उनका मानना था कि "मन्दिर जाने मात्र से मेरा धर्म खत्म हो जाएगा, ऐसा मेरा विश्वास नहीं है।" निम्न घटना प्रसंग उनके व्यक्तित्व को प्रकट करता है - "जयपुर प्रवास में एक भाई ने आचार्य श्री को मन्दिर पधारने के लिए निवेदन किया। आचार्य श्री तुरन्त मन्दिर पधारें"

आइये अब आचार्य श्री की दृष्टि में सोचते है....

"....हाँ यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि मन्दिर में जैन धर्म का बहुत बड़ा इतिहास सुरक्षित है। वे हमारी परम्परागत निधि है।"

(धर्मक्रांति के सूत्रधार - समणी डॉ. कुसुमप्रभा)

"....निंदा को मैं हिंसा मानता हूँ। जो कोई भी निन्दा करता है, उसे हिंसक कहने में मुझे कोई संकोच नहीं। मन्दिर के प्रति मूर्तिपूजकों का जितना आदरभाव है, किसी अपेक्षा से मेरा उनसे कम नहीं है।"

(धम्मो सुद्धस्स पृ. - 1051 ध. क्रां. सु.)

कोई व्यक्ति द्रव्य पूजा करता है तो उसमें मेरा कोई हस्तक्षेप नहीं होता, मैं मूर्ति का विरोधी नहीं हूँ क्योंकि अन्यान्य निमित्तों की भांति मूर्ति भी धर्माराधना में निमित्त और प्रेरक बन सकती है।

(2 जुलाई 1968 के प्रवचन से - ध. क्रां. सु.)

मैं मूर्ति की ओर पीठ करके भी नहीं बैठता। लाखों लोगो की दृष्टि में जो पूज्य है उनका अनादर और अवहेलना करना हमारा काम नहीं।

(16-8-1967 के प्रवचन से - ध. क्रां. सु.)

ऐतिहासिक दृष्टि से भी मूर्तियों में जो स्थापत्य कला है वह जैनों के लिए गौरव का विषय है।

(धम्मो सरण पृ 83-84 । ध. क्रां. सु.)

देहादि णिमित्तंपि हु जे. कायवहम्मि तह पयट्टंति
जिणपूआ कायवहम्मि, तेसिमपवत्तणं मोहो ॥45॥

शरीर, व्यापार, खेती आदि सांसारिक कार्यो में तथा संत-सतियों की जन्म जयन्तियाँ, श्मशान यात्रा, किताबें छपवाना, मर्यादा-महोत्सव, दीक्षा महोत्सव, चातुर्मास में वाहन द्वारा संत-सतियों के दर्शनार्थ जाना, बडे बडे स्थानक, सभा भवन, समता भवन बनवाना आदि धार्मिक कार्यो में हिंसा करते ही हैं। लेकिन जीव-हिंसा का बहाना बनाकर जो लोग समकित और मोक्ष देनेवाली जिनपूजा को नहीं करते हैं। यह उनका मिथ्यात्व है। मोह !! मूर्खता है। !!!

- श्रावक प्रज्ञप्ति श्लोक नं. 349
(श्री उमास्वातिजी महाराज) और
एकावतारी, 1444 ग्रन्थों के प्रणेता,
आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी म. सा.
कृत चतुर्थ पंचाशक महाग्रन्थ
श्लोक नं. 45 से उद्धृत

अपने गुरुदेव भी अरिहंत एवं गुरु आदि की स्थापना को स्वीकारते है तो हम क्यों नहीं ?

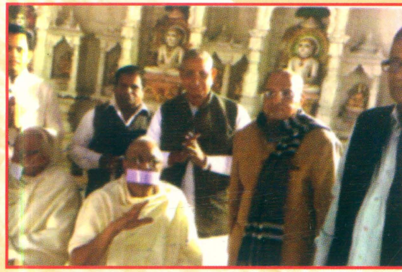

नाकोड़ा भैरव के दर्शन करते हुए आ. महाश्रमण

निष्पक्षता से सत्य अन्वेषण

तेरापंथ के आचार्य महाप्रज्ञजी ने भी स्पष्ट खुलासा किया है कि "जैन परम्परा में मुखवस्त्रिका बांधने का इतिहास पुराना नहीं है। यह स्थानकवासी परम्परा से शुरू हुआ है। मुनि जीवेजी आदि के समय से शुरू हुआ है।

किंतु एक परम्परा के चलने का अर्थ यह नहीं कि हम पुराने अर्थों को ठीक से न समझें। हमें पुराने अर्थों को भी ठीक से समझना है। 'हस्तक' से शरीर का प्रमार्जन करें। 'हस्तक' का अर्थ है-मुखवस्त्रिका। मुखवस्त्रिका, मुँह पर बांधने का अर्थ नहीं है। मुखवस्त्र यानी रुमाल, जब मुनि प्रतिलेखन करें तो उस रुमाल या कपड़े से पहले पूरे शरीर का प्रमार्जन करें। मुखवस्त्रिका से कैसे शरीर का प्रमार्जन होगा ? यही सोचने की बात है। 'हत्थगं संपमज्जित्ता' प्रतिलेखन की विधि है कि उससे पहले पूरे शरीर का, सिर से पैर तक हस्तक से प्रमार्जन करें। अब कैसे करेगा ? हम जो सही अर्थ है, उसे समझ नहीं पाते, इसलिए रूढियां पनपती है। मुखवस्त्रिका का अर्थ मुँह पर बांधने की पट्टी नहीं। आगम में कहीं भी बांधने का उल्लेख नहीं है।"

(तत्त्वबोध से साभार उद्धृत ता. 01/03/04 सितम्बर 2007)